हिन्दी उपन्यासों में सांप्रदायिक विमर्श

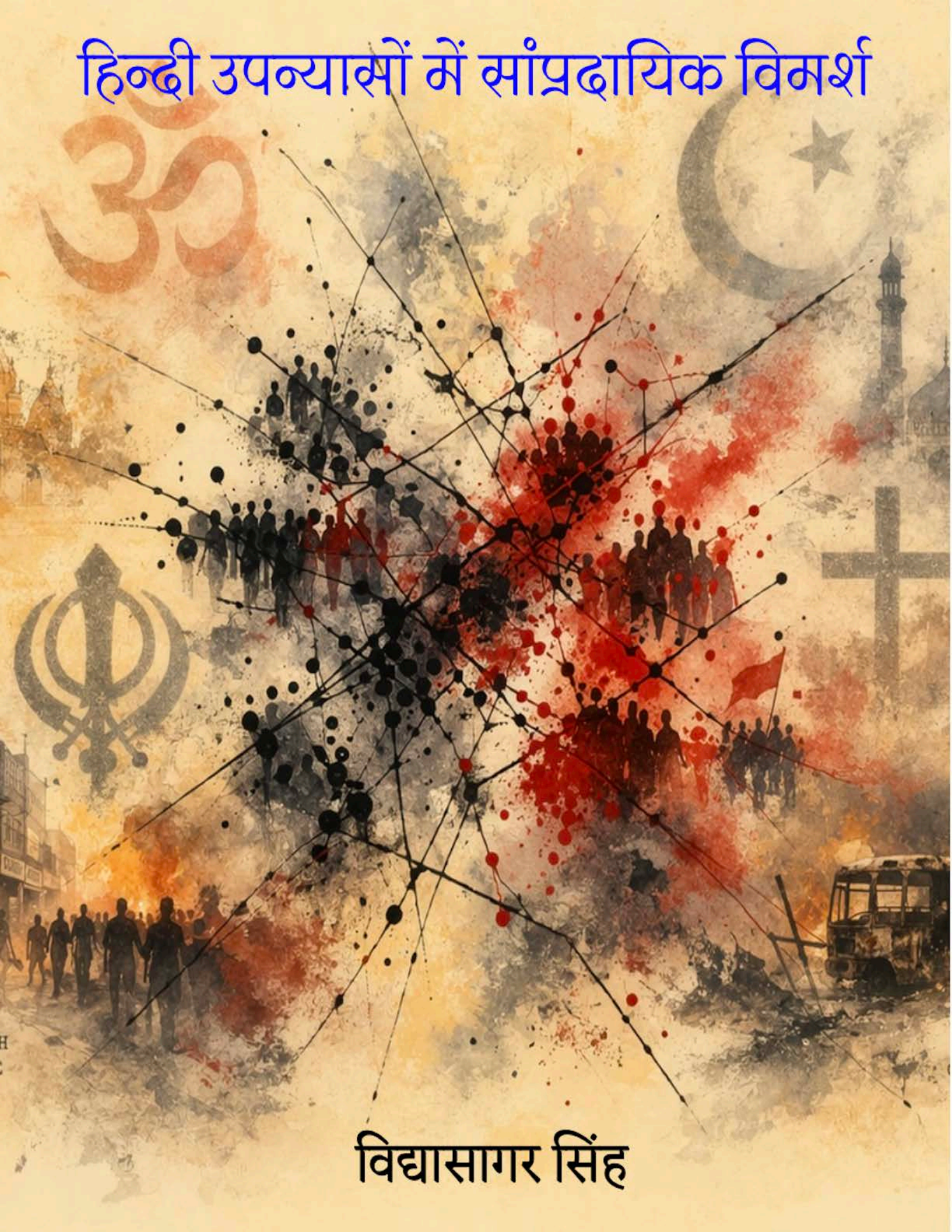

विद्यासागर सिंह

हिन्दी उपन्यासों में सांप्रदायिक विमर्श

विद्यासागर सिंह

प्रकाशक: नॉटनल

प्रकाशन: अप्रैल, 2026

© विद्यासागर सिंह

ISBN: 978-93-7581-086-5

समर्पण

ममतामयी माँ

श्रीमती मोतीझरी देवी को

अनुक्रम

भूमिका	4
प्राक्कथन	8
सांप्रदायिकता के विभिन्न आयाम	13
स्वाधीनता आंदोलन के भटकाव	78
हिन्दी उपन्यासों में सांप्रदायिकता	170
उपन्यासकारों की दृष्टि में सांप्रदायिकता	309
भाषा की सांप्रदायिकता	409
उपसंहार	518

भूमिका

प्रो. विपिन चन्द्र ने साम्प्रदायिकता को परिभाषित करते हुए लिखा था कि सांप्रदायिकता एक ऐसी अवधारणा है जिसके अनुसार एक धर्म को मानने वाले समूह के सदस्यों के सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक हित समान होते हैं। यदि ईसाई इस परिभाषा को विस्तार दें तो इसके मुताबिक भारत में हिंदू, मुसलमान, अथवा सिक्ख अलग-अलग राष्ट्रीयताएँ हैं और वे एक दूसरे से इतने भिन्न और अपने भीतर इतने समरस हैं कि एक धर्म को मानने वालों के धार्मिक हित तो एक हैं ही, उनके गैर धार्मिक मसलन राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक हित भी एक जैसे ही हैं। इसे थोड़ा और विस्तार दें तो यह भी कहा जा सकता है कि एक धार्मिक समुदाय के लोगों के हित न सिर्फ समान होते हैं बल्कि वे दूसरे समुदाय के हितों के विपरीत भी होते हैं।

भारत के सन्दर्भ में सांप्रदायिकता को मुख्य रूप से हिंदू-मुस्लिम रिश्तों के इर्द-गिर्द ही परिभाषित किया जाता है। प्रोफेसर विपिन चन्द्र की उपरोक्त परिभाषा में यकीन से ही दो राष्ट्रों के सिद्धांत का आविष्कार हुआ था। पहली बार उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में कुछ हिंदू भाष्यकारों ने हिंदुओं और मुसलमानों को एक साथ न रह सकने वाले अलग राष्ट्रों के रूप में परिकल्पित किया था। यह सैद्धांतिकी बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में मुस्लिम कट्टरपंथियों द्वारा पाकिस्तान आन्दोलन के रूप में परवान चढ़ी।

आज सांप्रदायिकता समकालीन बहुलवादी भारतीय समाज और एक धर्मनिरपेक्ष लोकतांत्रिक गणराज्य की परिकल्पना करने वाले उसके संविधान के समक्ष मौजूद सबसे बड़ा खतरा है। बावजूद इसके कि 1947 में देश का विभाजन इस भ्रामक समझ के आधार पर हुआ था कि हिंदू और मुसलमान दो अलग राष्ट्र है, गांधी, नेहरू और उनके जैसे बहुत से रौशन खयाल लोगों ने जो स्वतंत्र भारत में नेतृत्व के शीर्ष पर थे इसे मानने से इनकार कर दिया था और भीषण मारकाट के बीच भी देश को एक धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र बनाने का निर्णय लिया गया था। यह अलग बात है कि भारतीय राज्य सही अर्थों में कभी भी पूरी तरह से धर्मनिरपेक्ष नहीं बन पाया और इसीलिए समय-समय पर होने वाले सांप्रदायिक दंगों के दौरान राज्य मशीनरी की भूमिका पर उंगलियाँ उठती रहीं।

सांप्रदायिकता किसी एक संप्रदाय की बपौती नहीं है और अकादमिक अध्ययनों से यह सिद्ध किया जा सकता है कि बहुसंख्यक दुनिया के हर भूभाग में दंभी होता है। वह राष्ट्र की किसी मुख्य धारा की कल्पना करता है और साथ ही अल्पसंख्यकों को उस मुख्यधारा में लाना उसे किसी बड़े दैवीय कर्तव्य की तरह लगता है। यूरोप में भी जहां राष्ट्र राज्यों के अंदर धार्मिक और भाषिक भिन्नताएं न्यूनतम हैं उन्हें समाप्त करने के प्रयासों और किसी एक मुख्य धारा में सबको समाहित करने की दुष्परिणाम हम महायुद्धों के रूप में देख चुके हैं।

भारत विभिन्नताओं का अद्भुत संगम है। कई सौ भाषाओं, दुनिया के लगभग हर धर्मों को मानने वालों का निवास स्थल और भिन्न खान-पान तथा बहुरंगी कपड़ों-लत्तों वाला यह महादेश विविधताओं का एक खूबसूरत कोलाज है। इसमें किसी मुख्य धारा की

कल्पना करना असंभव ही नहीं बल्कि आत्महत्या सरीखा है। ऐसे में न सिर्फ मुख्य धारा की अवधारणा का विरोध करना चाहिए बल्कि इसे समझने के लिए नित नए अकादमिक औजारों को पैना करने की जरूरत है। कुछ चीजें बदलीं और कुछ अभी भी ज्यों की त्यों हैं। साफ्ट हिंदुत्व का प्रयोग करते-करते हम हार्ड हिंदुत्व तक आ पहुँचे हैं। पहली बार हिंदुत्व की लहर पर चढ़ कर किसी पार्टी को केंद्र में पूर्ण बहुमत मिला है। यह अलग बात है कि इस बार वे विकास की बातें कर रहे हैं पर एक योजनाबद्ध तरीके से संस्थाओं को नष्ट किया जा रहा है और उनमें संघ के कार्यकर्ताओं को घुसाया जा रहा है। कुल मिला कर उदारता का भारतीय सामाजिक ताना-बाना नष्ट करने का पूरा प्रयास हो रहा है।

'शहर में कर्फ्यू' लिखते समय इलेक्ट्रॉनिक चैनेल नहीं थे और न ही न्यायपालिका की संवेदनशीलता इस स्तर की थी कि अल्पसंख्यकों के साथ राज्य की ज्यादती देर तक और दूर तक न चल सके। साम्प्रदायिक हिंसा की किसी बड़ी वारदात के बाद ये दोनों संस्थाएं राज्य पर अंकुश लगा सकती हैं। इसके अलावा वैश्विक परिस्थितियां भी ऐसी हैं कि भारत में 2002 का गुजरात दोहराया नहीं जा सकता है। इसलिए तीस साल बाद यह तो कहा जा सकता है कि राज्य पर जिम्मेदार व्यवहार करने के दबाव पहले से ज्यादा है पर यह भी सही है कि कट्टरपंथियों का दखल रोजमर्रा की जिन्दगी में बढ़ा है और उच्च शिक्षण संस्थानों में खास तौर से सिलेबस बनाने और नियुक्तियों में तो उनका असर दिखने भी लगा है। कुल मिलाकर इस प्रश्न का कोई सरलीकृत उत्तर नहीं दिया जा सकता।

विद्या सागर की यह पुस्तक उनके कई वर्षों के शोध का परिणाम है इस शोध में उनका कठोर परिश्रम, गहरी अंतर्दृष्टि और भारतीय समाज के जटिल अंतर्संबंधों को समझने की उत्सुकता साफ झलकती है। मैं आशा करता हूँ कि अगले संस्करणों में इसका स्वरूप और निखरकर सामने आयेगा।

- विभूति नारायण राय